आयुर्वेद में त्रिदोष

आयुर्वेदशास्त्र में संक्षेपतः तीन ही दोष माने जाते हैं-वात, पित्त तथा कफ-**"वायुः पित्तं कफश्चेति त्रयो दोषाः समासतः"।** क्योंकि ये शरीर को दूषित करते हैं इसलिए इन्हें दोष कहा जाता है।

'दूषणाद्दोषाः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो शरीर को दूषित करते हैं वे दोष हैं, ये दोष शरीर को तभी दूषित करते हैं जब स्वयं विकृत हो जाते हैं।

दूषित होने पर ये त्रिदोष शरीर में अनेक तरह के विकार उत्पन्न करते हैं।

चरक संहिता में कहा गया है कि वात, पित्त और कफ- ये त्रिदोष प्राणियों के शरीर में सर्वदा रहते हैं। शरीर के प्रकृतिभूत ये त्रिदोष आरोग्य प्रदान करते हैं तथा विकृत होने पर ये विकार कहे जाते हैं। त्रिदोष का प्रकृतिस्थ रहना ही आरोग्य है-**दोषा पुनस्त्रयो वात पित्त श्लेष्माणः। ते प्रकृति भूताः शरीरोपकारका भवन्ति। विकृतिमापन्नास्तु खलु नानाविधैर्विकारैः शरीरमुपतापयन्ति।** अर्थात्- प्राकृतावस्था में लाभकारी और विकृति आने पर शरीर में रोगोत्पत्ति दोषों के ही परिणामस्वरूप होती है।कहने का तात्पर्य यह है कि इनकी साम्यावस्था ही स्वस्थता का प्रतीक है और इसमें परिवर्तन होना विकार का कारण-**'रोगस्तु दोषवैषम्यं दोषसाम्यरोगताम्'।**

अतः इन दोषों में परिवतर्न आना ही रोग का मूल कारण होता है।अनेक प्रकार के मिथ्याहार-विहारों के सेवन करने पर भी यदि मनुष्य की क्षमता के आधार कारण दोष का कोप न हो अथवा स्वल्प मात्रा में दोष कुपित हो, तब रोग की संभावना नहीं होती

वात, पित्त और कफ का स्थान समग्र शरीर है।

मानव शरीर का निर्माण पंचमहाभूत से होता है। जब संपूर्ण शरीर ही पंचभौतिक है, तो शरीर में रहने वाले तथा शरीर के विभिन्न क्रियाकलापों में सक्रिय रूप से सहयोग करने वाले त्रिदोष का पंचभौतिक संगठन भी स्वाभाविक है। तीनों दोषों में जो गुण और कर्म विद्यमान हैं, उनका आधार पंचमहाभूत ही है। पंच महाभूत सृष्टि के सूक्ष्म तत्त्व हैं, जिनमें संपूर्ण सृष्टि एवं सृष्टि के संपूर्ण चराचर द्रव्य प्रभावित है और उन संपूर्ण तत्त्वों में पंचमहाभूत व्याप्त हैं।

पंचमहाभूतों से तीनों दोषों की उत्पत्ति महाभूत के गुणों के आधार पर ही होती है। पञ्चमहाभूतों में आकाशतत्त्व अवकाश (खाली स्थान) के रूप में शरीर में रहता है और पृथिवीतत्त्व आधारस्वरूप है, अतएव ये दोनों निष्क्रिय (निश्चेष्ट) हैं, अर्थात् इन दोनों में किसी प्रकार की क्रिया नहीं होती है। शेष तत्त्वों का विवरण इस प्रकार है-जलतत्त्व 'कफ' है, अग्नितत्त्व 'पित्त' है और वायुतत्त्व ही 'वात' है। ये तीनों वात आदि दोष विकृत (अर्थात् बढ़े हुए अथवा क्षीण हुए) शरीर का विनाश कर देते हैं और अविकृत (समभाव में स्थित) जीवनदान करते हैं अथवा स्वास्थ्य-सम्पादन करने में सहायक होते हैं- **"विकृताऽविकृता देहं घ्नन्ति ते वर्तयन्ति च"**।

ये तीनों वात आदि दोष सदा समस्त शरीर में व्याप्त रहते हैं। फिर भी नाभि से निचले भाग में वायु का, नाभि तथा हृदय के भाग में पित्त का और हृदय के ऊपरी भाग में कफ का आश्रयस्थान है- **"ते व्यापिनोऽपि हृन्नाभ्योरधोमध्योर्ध्वसंश्रया"**।

वात का संचय ग्रीष्म में, प्रकोप वर्षा में तथा शमन शरद ऋतु में होता है। पित्त का संचय वर्षा, प्रकोप शरद एवं शमन हेमन्त ऋतु में होता है। कफ का संचय हेमन्त प्रकोप वसन्त तथा शमन ग्रीष्म ऋतु में होता है।

आचार्य वाग्भट्ट के अनुसार आयु, अहोरात्रि (दिन और रात्रि) और भोजनकाल में दोषों की स्थिति क्रमशः उसके आदि, मध्य और अंत में होती है अर्थात् आयु के अंत में या वृद्धावस्था में वात का प्रकोप, आयु के मध्य युवावस्था में पित्त का प्रकोप तथा आयु के आदि अर्थात् बाल्यावस्था में कफ का प्रकोप होता है। इसी प्रकार दिन के अंत में सन्ध्याकाल में वायु का, दिन के मध्य में पित्त का और दिन के आदि- प्रातःकाल में कफ का प्रकोप होता है। रात्रि के अंतिम प्रहर में वायु का, मध्य रात्रि में पित्त का और रात्रि के प्रारंभिक भाग में कफ का प्रकोप होता है। इसी प्रकार भोजन के अंतिम काल या परिपक्वावस्था में वायु का, मध्य यानि पच्यमानावस्था में पित्त का तथा आदि में अर्थात् आमावस्था में कफ का प्रकोप होता है।

इस प्रकार वात, पित्त, कफ़ के दूषित यानि विकृत होने पर रोगोत्पत्ति होती है जिसके फलस्वरूप चिकित्सा सिद्धान्त का प्रथम सूत्र त्रिदोष चिकित्सा सूत्र पर आधारित होता है। कारण कि

समस्त रोगों का मूल त्रिदोष में विकृति ही है, तथा इनकी चिकित्सा भी देश, काल, ऋतु, रोगी एवं आहार- विहार के अनुसार ही होती है।

वायु या वात-

वायु अथवा वात शरीर रूपी यंत्र का संचालन करने वाला है। शरीर में प्रत्येक धातु स्थूल और सूक्ष्म रचना का कारण वायु ही है। प्रत्येक अवयव का अन्य अवयवों के साथ रचनात्मक तथा कर्म विषयक संधान वायु की ही प्रेरणा से होती है। शरीर की सभी चेष्टाएँ वायु द्वारा ही होती है । वायु से ही उच्छ्वास-निःश्वास आदि जीवनोपयोगी- अनैच्छिक स्वतंत्र चेष्टाएँ होती हैं। वायु ही मन को उसके विषयों में नियोजित करता है। वायु ही वाणी का प्रवर्तक है। सभी प्राणियों में चेष्टा ज्ञान का मूल वायु ही होता है। शरीर में समस्त प्रकार की क्रियाएँ वायु के द्वारा ही होती है। यह वायु प्राणियों का प्राण माना जाता है। उसी वायु के द्वारा विभिन्न प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं, किन्तु रोगों के शमन भी वायु के द्वारा ही होता है। वायु ही दोष और मलों को स्वस्थान पर रखता है और आवश्यकता होने पर योग्य स्थान पर पहुँचाता है। वायु के बिना पित्त और कफ पंगु हैं।

सर्व अवयव और चेष्टाओं का निमित्त भूत होने से वायु सर्वात्म (विश्वरूप) है।वायु ही बल है। वायु ही आयु है। वायु ही प्राणियों का प्राण है।वायु ही हर्ष और उल्लास का हेतु है।

वायु के मुख्य सात गुण हैं-'रुक्षः शीतो लघुः सूक्ष्म चलोऽथ विशद खरः'। शरीर में वात दोष के क्षय या वृद्धि का जो स्वरूप होता है, वह इन गुणों पर ही आधारित होता है। महाभूत के कारण इन गुणों की क्षय या वृद्धि होती है। इसलिए ही इन्हें भौतिक गुण कहा गया है।

शरीर में स्थित वायु सर्वत्र एक ही रूप में रहता है। अतः उसको विभाजित नहीं किया जा सकता, किन्तु भिन्न- भिन्न स्थानों में स्थित होकर के वह वायु भिन्न- भिन्न प्रकार के कर्मों को करता है। इसलिए उसके स्थान और कर्मों के आधार पर वायु के पाँच प्रकार बताये गये हैं। प्राण, उदान, समान, व्यान और अपान यह पाँच प्रकार का वायु विभिन्न स्थानों में स्थित रहता हुआ मनुष्यों के जीवन का यापन करता है। पित्ताशय, कटि, सक्थि, श्रोत्र, अस्थि स्पर्शेन्द्रिय- ये वायु के स्थान हैं। इनमें भी पित्ताशय वायु का विशेष स्थान है। चूँकि पित्ताशय में वायु ग्रहण किये आहार से उत्पन्न होता है। इसलिए पित्ताशय को वायु का विशेष स्थान बताया गया है। प्राणवायु शरीर के लिए अत्यन्त

महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसके द्वारा संपन्न होने वाली क्रियाएँ शरीर के जीवनयापन से सम्बन्ध रखती हैं क्योंकि शरीर में चेतनता इसी के द्वारा रहती है। जो वायु मुख प्रदेश में संचरण करता है, वह प्राणवायु कहलाता है और वह शरीर को धारण करता है। इसके अतिरिक्त यह वायु मुख द्वारा ग्रहण किये हुए आहार को अंदर प्रविष्ट करता है। प्राणवायु के मूर्धा, वक्ष प्रदेश, कण्ठ, जिह्वा, मुख, नासिका स्थान है। छींकना, थूकना, उद्गार, श्वास, आहारादि को ग्रहण करने का कार्य प्राणवायु के द्वारा किया जाता है। प्राणवायु मुख्य रूप से वक्ष प्रदेश, कण्ठ प्रदेश और कण्ठ से ऊपर शिर प्रदेश में स्थित रहता है। यह मुख द्वारा ग्रहण किये हुए अन्न को अंतःप्रवेश कराने में सहायक होता है। महर्षि चरक के अनुसार उदानवायु का स्थान नाभि प्रदेश, वक्ष एवं कण्ठ है। इसके द्वारा किये गये कर्मों में वाणी की प्रवृत्ति, शरीर की शक्ति प्रदान करना मुख्य है तथा शरीर के बल और वर्ण को स्थित रखना है। इसके विकृत होने पर नेत्र, मुख, नासिका, कर्ण और शिरो रोग होते हैं। समान वायु पाचक अग्नि के समीप आमाशय में रहती है। इसका कार्य अन्न को पचाना, अग्नि को बल प्रदान करना तथा रस, पुरीष और मूत्र को पृथक् करना है। व्यानवायु को सर्वशरीरव्यापी बताया गया है और इसके द्वारा मुख्य रूप से शरीर में रस के संवहन का कार्य किया जाता है। यह स्वेद और रुधिर का स्राव करता है। महर्षि चरक के अनुसार शरीर के प्रत्येक अवयव में होने वाली क्रिया व्यानवायु के अधीन है चाहे वह क्रिया ऐच्छिक हो या अनैच्छिक व्यानवायु के द्वारा उसे गति प्राप्त होती है। इस प्रकार व्यान वायु के द्वारा संपूर्ण चेष्टाएँ होती है और शरीर में रस का संवहन होता है। इसके कुपित होने पर ज्वर अतिसार रक्तपित्त यक्ष्मा प्रभृति सर्वाङ्ग रोग होते हैं। अपानवायु मुख्य रूप से शरीर के अधोभाग में रहती है और अधोमार्ग से बाहर निकलने वाले द्रव्यों के निष्कासन का कार्य करता है। दोनों अण्डकोष, बस्ति प्रदेश, शिश्न, नाभि, उरु, वंक्षण प्रदेश, गुदप्रदेश- इन स्थानों में स्थित रहता हुआ अपानवायु, शुक्र, मूत्र, पुरीष, आर्त्तव और गर्भ को बाहर निकालता है। कुपित होने पर यह अश्मरी, मूत्रकृच्छ, शुक्रदोष, अर्श, भगन्दर, गुदपाक आदि रोग उत्पन्न करता है। अष्टाङ्गहृदय के अनुसार विविध कारणों से बढ़ा हुआ वात दोष कृशता, नख-नेत्र आदि में कालापन, उष्ण आहार-विहार की इच्छा का होना, कँपकँपी का होना, आनाह, पुरीष की स्वाभाविक गति में रुकावट, बलनाश, निद्रानाश, इन्द्रियों की शक्ति का क्षय या ह्रास, प्रलाप (अंट-संट बकना), चक्करों का आना तथा दीनता-इन लक्षणों को उत्पन्न करता है-

"कार्श्यकार्ष्ण्योष्णकामत्वकम्पानाहशकृद्ग्रहान्।

बलनिद्रेन्द्रियभ्रंशप्रलापभ्रममदीनता"।।

पित्त

'तप संतापे' धातु से कृदन्त विहित प्रत्यय द्वारा 'तपति इति पित्तं' जो शरीर में ताप, गर्मी उत्पन्न करे उसे पित्त कहते हैं। शरीर में पित्त शब्द से उस स्थान का बोध होता है, जो उष्णता प्रदान करता है। पित्त के द्वारा शरीर में जो कुछ भी कार्य संपन्न होता है, वह अग्नि के समान गुण, कर्म वाला होता है इसलिए पित्त शरीर में अग्निभाव का द्योतक है।

पित्त शरीरान्तर्गत एक ऐसा महत्त्वपूर्ण धातु है जो शरीर को धारण करता है और अपने प्राकृत कर्मों द्वारा शरीर का उपकार करता है। शरीर को धारण करने के कारण पित्त धातु भी कहलाता है। पित्त के विशिष्ट गुणों के आधार पर ही उसके स्वरूप का निर्धारण किया गया है। उष्णता, तीक्ष्णता, लघुता, द्रवति, अनतिस्निग्धता, शुक्लरहित वर्ण, विस्रगंध, कटु और अम्ल रस तथा सर के पित्त के आत्मरूप है। अतः इन गुणों से युक्त जो भी कोई द्रव्य है वह पित्त है। बाह्य लोक में जो अग्नि का महत्त्व है, वही शरीर में पित्त का है।

पित्त, तीक्ष्ण, द्रव, दुर्गन्धित, नील, पीत वर्ण, उष्ण, कटु, सर विदग्ध और अम्ल रस वाला होता है। ये गुण पित्त में विशेष रूप से होते हैं। तीक्ष्णता होना इस बात की ओर संकेत करता है कि पित्त में मंदता के विपरीत तीव्र रूप से छेदन-भेदन करने की प्रक्रिया इसी गुण के कारण होती है। पित्त का कोई प्राकृत वर्ण न होने के कारण, उसमें नील और पीत वर्ण का संयोजन होने के ही कारण इन दोनों वर्णों को बताया है। उष्ण गुण के कारण पित्त उष्णता, ताप, दहन- पाचन आदि क्रियाओं को करने में समर्थ होता है। महर्षि चरक के अनुसार- स्नेह, तीक्ष्ण, उष्ण, द्रव, अम्ल, सर और कटुरस वाला पित्त होता है। पित्त, अग्नि महाभूत का प्रतिनिधि द्रव्य है। पित्त के नैसर्गिक गुणों में शब्द, स्पर्श और रूप ये तीन गुण होते हैं। पित्त के प्राकृत गुणों में सत्त्व और रज प्रधान है, क्योंकि अग्नि महाभूत में इन दोनों गुणों का निर्देश किया गया है।

पित्त के कर्म भी दो प्रकार के होते हैं- प्राकृत कर्म एवं वैकृत कर्म। जब पित्त प्राकृतावस्था में रहता है, तब उसके द्वारा संपन्न होने वाला प्रत्येक कर्म शरीर के लिए उपयोगी और शरीर को स्वस्थ

रखने वाला होता है। किन्तु वही पित्त जब विकृत हो जाता है, तब उसके द्वारा किये जाने वाला कर्म शरीर को विकारग्रस्त बनाता है, जिससे शरीर में पित्त जनित रोग उत्पन्न होते हैं। महर्षि चरक के अनुसार नेत्रों के द्वारा देखने की क्रिया, खाये हुए आहार का परिपाक करना, शरीर में उष्मा का निर्माण करना, यथावश्यक भूख उत्पन्न करना, प्यास लगाना, शरीर में मृदुता उत्पन्न करना, शरीर को प्रसन्न रखना और बुद्धि उत्पन्न करना, ये प्राकृत पित्त के कर्म हैं। उष्ण गुण वाले पित्त से ही मनुष्यों के शरीर में सभी प्रकार का पाक होता है और वही पित्त कुपितावस्था में अनेक विकारों को उत्पन्न करता है।

स्थान एवं कर्मानुसार पित्त पाँच प्रकार का होता है-पाचक, रंजक, आलोचक, साधक और भ्राजक पित्त। शरीर के सूक्ष्मतम भाग में होने वाले पाक का आधार पाचक पित्त है। यह पित्त शरीर में मुख्य रूप से पक्वाशय और आमाशय के मध्य भाग में स्थित ग्रहण प्रदेश में होता है। इसी पाचक पित्त के कारण धात्वाग्नि और भौतिक अग्नियों के नाम रहते हैं। पाचक पित्त अन्न का पाचन (जरण) करके उसके अवयवों को सूक्ष्म रूप प्रदान करता है, जिससे धात्वग्नियाँ सरलतापूर्वक उनका परिपाक करके धातुओं में परिवर्तित कर देती हैं। यकृत प्लीहा में जो पित्त स्थित रहता है, उसकी रंजकाग्नि संज्ञा है। वह रस का रंजन कर उसे लाल वर्ण प्रदान करता है। इसके अनुसार रंजक पित्त का मुख्य स्थान यकृत और प्लीहा माना गया है। किन्तु कुछ आचार्यों ने रंजक पित्त का स्थान आमाशय और हृदय प्रदेश भी माना है।आचार्य वाग्भट्ट के अनुसार आमाशय में आश्रत पित्त रस का रंजन करने से रंजक पित्त कहलाता है। शरीर के सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान हृदय में साधक पित्त का स्थान है। जो पित्त हृदय में स्थित रहता है, उसकी साधकाग्नि संज्ञा है। यह इच्छित मनोरथों का साधन करने वाला होता है। आचार्य वाग्भट्ट ने साधक पित्त को निम्न कार्यों का साधन करने वाला बताया है- बुद्धि, मेधा और अभिधान (स्मृति) आदि के द्वारा अभिलषित विषयों का साधन करने से साधक पित्त कहलाता है तथा हृदय में स्थित रहता है। जो पित्त नेत्र में रहता है, उसका नाम आलोचक पित्त है। इसका कार्य नेत्र को ज्योति प्रदान करना है। महर्षि सुश्रुत ने इसे आलोचकाग्नि की संज्ञा दी है। दृष्टि में जो पित्त रहता है, उसकी आलोचकाग्नि संज्ञा दी है। भ्राजक पित्त शरीर के त्वचा प्रदेश में रहता है। इसका मुख्य कार्य त्वचा का भ्राजन (रंजन) करना है। भ्राजक पित्त के द्वारा शरीर के त्वचा का वर्ण प्रकाशित होता है।

महर्षि सुश्रुत के अनुसार त्वचा में जो पित्त रहता है, उसकी भ्राजकाग्नि संज्ञा है। वह अभ्यंग, परिषेक, अवगाहन और लेप आदि में प्रयुक्त किये हुए द्रव्यों का पाचन करता है तथा छायायों का प्रकाशक है।

अष्टाङ्गहृदय के अनुसार अनेक कारणों से बढ़ा हुआ पित्तदोष मल, मूत्र, नेत्र तथा त्वचा में पीलापन, भूख-प्यास की अधिकता, जलन का होना, नींद कम आना-इन लक्षणों को पैदा करता है-

पीतविण्मूत्रनेत्रत्वक्क्षुत्तृड्दाहाल्पनिद्रता।

कफ

जिस जल से जो फलीभूत होता है, अथवा जिसमें जल होता है, उसको कफ कहते हैं। जो परस्पर विघटित अणुओं को आपस में संश्लिष्ट करके उन्हें मिलाने वाला होता है, वह कफ कहलाता है। शरीर के विभिन्न अवयवों को रस के द्वारा उपश्लेषण तथा पोषण करने वाला श्लेष्म ही होता है। श्लेष्मा के द्वारा शरीर में जो भाव उत्पन्न किये जाते हैं, वे शरीर के पोषण के लिए आवश्यक होते हैं। प्राकृत श्लेष्मा के द्वारा जो शरीर को पोषण प्राप्त होता है, वह शरीर की पुष्टि स्थिरता दृढ़ता के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

श्लेष्मा को शरीर के बल का आधार माना गया है अर्थात् शारीरिक बल की पूर्ति के लिए कफ की विशेष उपयोगिता है।

वस्तुतः जो श्लेष्म हमें स्थूल रूप से दिखाई देता है, केवल वही उसका स्वरूप नहीं है। सामान्यतः जो लक्ष्ण, मृदु, स्थिर, श्वेत, स्निग्ध, सान्द्र और गुरु गुण वाला होता है, वही श्लेष्म (कफ) कहलाता है और यही शरीर को धारण करता है। यद्यपि श्लेष्म पंचभौतिक है, तथापि इसमें जल महाभूत की प्रधानता होती है।

गुरु, शीत, मृदु, स्निग्ध, मधुर और पिच्छिल ये कफ (श्लेष्म) के गुण होते हैं। इसके विपरीत गुण वाले द्रव्यों का सेवन करने से श्लेष्म का शमन होता है। स्नेहबन्ध, दृढ़ता, गुरुता, वृषता, बल, क्षमा, धैर्य और अलोभ ये कफ़ के प्राकृत कर्म होते हैं। कफ स्वभावतः स्निग्ध गुण वाला होता है और अपनी स्निग्धता के कारण शरीर को निरंतर स्नेह प्रदान करता रहता है। इस स्नेह कर्म के द्वारा शरीर में स्निग्धता बनी रहती है और वायु की रूक्षताजनित विकृति शरीर में उत्पन्न नहीं होने पाती। स्नेह के द्वारा शरीर को पर्याप्त पोषण भी प्राप्त होता है। कफ का दूसरा कार्य शरीर के समस्त विघटित

अणुओं को परस्पर संश्लिष्ट करना एवं उन्हें बाँधकर रखना है। श्लेष्म के बंधन कर्म के द्वारा शरीर के प्रत्येक अवयव एक दूसरे से चिपके हुए रहते हैं, जिससे उनका स्थान भ्रंश नहीं होता। श्लेष्म अपने स्थिर गुण के कारण शरीर को स्थिरता प्रदान करता है। मुख्य रूप से मांस पेशियों की दृढ़ता श्लेष्म के कारण ही होती है। प्राकृत अवस्था में श्लेष्म बल की पूर्ति करने वाला होता है। इसलिए कफ को बलकारक कहा गया है। कफ मंद गुण वाला होने से पित्त के तीक्ष्ण आदि गुणों का शामक होता है।

यद्यपि संपूर्ण शरीर में श्लेष्म व्याप्त रहता है, किन्तु कुछ स्थान नियत हैं, जहाँ विशेष रूप से पाया जाता है। इन विशिष्ट स्थानों में रहता हुआ श्लेष्म अपने प्राकृत कर्मों को करता है।उरः प्रदेश, कण्ठ शिर, क्लोम पर्व (अंगुलियों के पोर), रस मेद घ्राण (नाक) और जिह्वा ये कफ के स्थान है, उनमें भी उरः प्रदेश श्लेष्म का विशेष स्थान है, अर्थात् अन्य स्थानों की अपेक्षा श्लेष्म वक्ष प्रदेश में विशेष रूप से पाया जाता है।

स्थान और कार्य की भिन्नता के आधार पर कफ पाँच प्रकार का होता है-क्लेदक, अवलम्बक, बोधक, तर्पक और श्लेषक कफ। क्लेदक कफ अमाशय में स्थित रहता है और खाये हुए आहार का क्लेदक करके उसे पचाने में सहायक होता है। अमाशय में क्लेदक कफ के कारण वहाँ जो पाक होता है, वह प्रथम अवस्था पाक कहलाता है। इस अवस्थापक के मधुर होने के कारण खाया हुआ छः रसों वाला आहार मधुर रस प्रधान होता है। क्लेदक कफ का प्रकोप होने से अरूचि एवं मंदाग्नि आदि पाचन संबंधी विकार होते हैं। अवलम्बक कफ शरीर के हृदय प्रदेश में रहता हुआ हृदय और शरीर का अवलम्बन करता है। यह उर (छाती) में रहता है। इसके क्षय व वृद्धि के कारण हृदय की गति हृदय संबंधी विभिन्न रोग तथा मानसिक भाव प्रभावित होते हैं। बोधक कफ जिह्वा में स्थिर रहने वाला है। यह जिह्वा के माध्यम से विभिन्न रसों का ज्ञान कराने में सहायक होता है। जिह्वा के प्राकृत रहने पर भी बोधक कफ की क्षय वृद्धि रस ज्ञान को प्रभावित करती है। इसलिए कई बार मनुष्य स्वस्थ होते हुए भी रसज्ञान करने में समर्थ नहीं होता। इसका कारण बोधक कफ का क्षय होता है। तर्पक कफ सिर में रहता है और वहाँ से इंद्रियों का तर्पण करता है। अस्थि का तर्पण करने के कारण सिर में स्थित रहने वाला कफ तर्पक कफ कहलाता है। यह कफ सभी इंद्रियों का तर्पक करता है। श्लेषक कफ का स्थान मुख्य रूप से संधियों में बताया गया है। विशेष रूप से चल संधियाँ ही इसका स्थान है। संधियों में

निरन्तर गति होने के कारण वहाँ स्नेह तत्त्व की आवश्यकता रहती है। स्नेह तत्त्व के बिना संधियों में प्राकृतिक रूप से गति नहीं होती और वेदना आदि विकार वहाँ उत्पन्न हो जाते हैं।

अष्टाङ्गहृदय के अनुसार अनेक प्रकार से बढ़ा हुआ कफदोष मन्दाग्नि, लालास्राव, आलस्य, गुरुता, पुरीष आदि में सफेदी, शीतता (जाड़ा लगना या शीतस्पर्श का अनुभव होना), अंगों में शिथिलता (ढीलापन), श्वास, कास तथा निद्रा की अधिकता होना-इन लक्षणों को उत्पन्न कर देता है-

श्लेष्माऽग्निसदनप्रसेकालस्यगौरवम्।

श्वैत्यशैत्यश्लथाङ्गत्वं श्वासकासातिनिद्रता।।

सौजन्य- http://literature.awgp.org/book/aayurved_ka_vyapak_kshetra/v1.9